अध्याय-5

राज्य एवं आर्थिक विकास

आर्थिक विकास के संवर्धन में राज्य की भूमिका

अर्थव्यवस्था में राज्य की भूमिका मुख्यत: राज्य द्वारा स्वीकृत सिद्धान्तों पर निर्भर करती है। यह इस बात पर भी निर्भर करती है कि देश में प्रमुख आर्थिक निर्णय कौन लेता है-सरकार अथवा निजी व्यक्तिगत क्रेता और विक्रेता।

एक पूर्णतया समाजवादी अर्थव्यवस्था में मुख्य निर्णयकर्ता राज्य ही होता है। जबकि एक पूर्णतया पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में राज्य तो केवल मात्र आर्थिक-ढांचे को बनाए रखने का काम करता है और निर्णय लेने का काम बाजार में उस ढांचे के अन्तर्गत काम करने वाले क्रेता और विक्रेता करते हैं। किन्तु हमारी अर्थव्यवस्था एक मिश्रित अर्थव्यवस्था है। हमारे यहां एक काफी बड़ा सरकारी अथवा सार्वजनिक क्षेत्र है जिसमें निर्णय लेने का काम राज्य करता है और ये निर्णय निजी लाभों को नहीं बल्कि सार्वजनिक उद्देश्यों को ध्यान में रखकर लिए जाते हैं। इसका अर्थ है कि सार्वजनिक क्षेत्र में निवेश-निर्णयों की योजना लगभग उसी तरह की जाती है जिस तरह समाजवादी में। इसके साथ ही साथ हमारे यहां एक काफी बड़ा निजी क्षेत्र भी है जिसमें मांग और पूर्ति की शक्तियों में बाज़ार-तन्त्र के माध्यम से ठीक उसी प्रकार ताल-मेल लाया जाता है जिस प्रकार एक शुद्ध पूंजीवाद में।

किन्तु राज्य के वे कौन से स्वीकृत सिद्धान्त हैं जिनके सन्दर्भ में ही इन दोनों क्षेत्रों की कार्यकुशलता अथवा सामाजिक उपयोगिता की जांच की जा सकती है ? अब लोग, बिना कोई सवाल किए, निजी क्षेत्र तक के लिए भी शुद्ध निजी लाभदायकता की पुरानी कसौटी को अधिक स्वीकार नहीं करते हैं और वे सार्वजनिक क्षेत्र के लिए तो निश्चित रूप से ही व्यापक सामाजिक सिद्धान्तों पर आधारित अन्य कसौटियों का ही प्रयोग करना चाहते हैं। वे यह चाह सकते हैं कि जो सामाजिक दृष्टि से वांछनीय हो उसे प्रोत्साहित करने या बढ़ाने के लिए और जो न हो उसे हतोत्साहित करने या रोकने के लिए राज्य इन सामाजिक सिद्धान्तों के आधार पर अर्थव्यवस्था के दोनों ही क्षेत्रों में हस्तक्षेप करे।

किन्तु हम यह कैसे जान सकते हैं कि सम्पूर्ण समाज सामाजिक दृष्टि से किसको वांछनीय मानता है ? यदि लोगों के उद्देश्य स्पष्ट रूप से नहीं दिए गए हैं तो इस सवाल का जवाब वास्तव में बहुत कठिन है। सौभाग्य से हमारी अर्थव्यवस्था के कुछ उद्देश्य हमारे लिखित संविधान में ही शामिल कर लिए गये हैं। ये राज्य को अर्थव्यवस्था के कार्य के सम्बन्ध में कुछ स्पष्ट दिशा निर्देशन देते हैं। ये दिशा निर्देशन भारतीय अर्थव्यवस्था के संचालन मेंप्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सरकार के उत्तरदायित्व की सीमा को निर्धारित करते हैं।

आजादी के तुरन्त बाद ही हमारे सामाजिक एवं आर्थिक उद्देश्यों को स्पष्ट कर दिया गया था और उन्हें हमारे संविधान में शामिल कर लिया गया था। संविधान 26 जनवरी 1950 को लागू किया गया था। इन दिशा-निर्देशों को सबसे पहले तो उद्देशिका में ही दिया गया था। उसके बाद इन्हें राज्य के नीति निर्देशक सिद्धान्तों में फिर से निश्चित रूप से दिया गया था। संविधान में भारत का एक जनतान्त्रिक गणतन्त्र के रूप में वर्णन किया गया था। अब हमने, इस संशोधन के द्वारा, इसका वर्णन इस रूप में विस्तार से कर दिया है-''एक जनतान्त्रिक, समाजवादी एवं पंथनिरपेक्ष गणतन्त्र।''

यह संशोधन प्रजातन्त्र, समाजवादी एवं पंथ निरपेक्षता के तीनों ही उद्देश्यों पर समान रूप से बल देना चाहता है। इसीलिए, अर्थव्यवस्था में क्रियाशील शक्तियों का मूल्यांकन करने के लिए हमें यह निर्णय करना होता है कि ये इन उद्देश्यों की दिशा में हमारी प्रगति में कहां तक सहायक अथवा बाधक हैं।

संविधान की उद्देशिका इन उद्देश्यों को और अधिक स्पष्ट रूप से इस प्रकार गिनाती हैं : न्याय-सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक, विचारों, विश्वास एवं उपासना की स्वतन्त्रता तथा प्रतिष्ठा एवं अवसर की समानता।

इसके अलावा लोगों के आर्थिक जीवन के बारे में भी संविधान में कुछ विशेष प्रावधान हैं जो राज्य के नीति निर्देशक सिद्धान्तों का भाग हैं। ये अर्थव्यवस्था के कार्य-संचालन की दृष्टि से सबसे ज्यादा अधिकृत दिशा-निर्देशन हैं।

लोगों के आर्थिक जीवन को प्रभावित करने वाले सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण निर्देशक सिद्धान्त निम्नलिखित हैं :

1. राज्य अपनी नीति का निर्देशन निम्नलिखित उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए करेगा :
   - क. सभी नागरिकों के लिए जीविका के पर्याप्त साधन,
   - ख. सामान्यहित के लिए समाज के भौतिक साधनों का उचित वितरण,
   - ग. एक उचित सीमा से अधिक धन के केन्द्रीकरण पर रोक,
   - घ. स्त्रियों व पुरुषों दोनों के लिए समान काम के लिए समान वेतन,
   - ङ. श्रमिकों की शक्ति व स्वास्थ्य की रक्षा तथा श्रमिकों को उनकी अपनी आयु एवं स्वास्थ्य की दृष्टि से बहुत अधिक खतरनाक कामों को स्वीकार करने के लिए बाध्य करने वाली परिस्थितियों को हटाना, और
   - च. बच्चों की शोषण से रक्षा।
2. काम और शिक्षा का अधिकार तथा बेकारी, बीमारी और बुढ़ापे में सार्वजनिक सहायता प्राप्त करना।
3. काम के उचित वातावरण को सुरक्षित करना।
4. रोज़गार दिलाना, जीवन निर्वाह, मज़दूरी व लोगों को उचित जीवन-स्तर दिलाना,
5. कमज़ोर वर्गों, विशेषकर अनुसूचित जाति एवं जनजाति के लोगों के आर्थिक हितों को प्रोत्साहित करना।
6. वैज्ञानिक, आधार पर कृषि एवं पशुपालन को संगठित करना।

इस प्रकार, निर्देशक सिद्धान्त वे स्पष्ट निर्देश प्रदान करते हैं जिनकी उस अर्थव्यवस्था के कार्य संचालन में हस्तक्षेप करने की दृष्टि से आवश्यकता पड़ती है। स्पष्ट है कि सरकार को इस प्रकार से हस्तक्षेप करने के लिए कहा गया है जिससे कि आर्थिक विकास एवं स्थिरता का लक्ष्य आर्थिक एवं सामाजिक न्याय के साथ-साथ चल सके।

राज्य द्वारा हस्तक्षेप की विधियां

ऐसे कई तरीके हैं जिनके द्वारा राज्य एक मिश्रित अर्थव्यवस्था में हस्तक्षेप कर सकता है। हम यहां इनमें से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उन तीन तरीकों का विवेचन करेंगे जिनके माध्यम से सरकार भारतीय अर्थव्यवस्था में हस्तक्षेप करती हैं। ये हैं (1) राजकोषीय नीति, (2) मौद्रिक नीति और (3) उत्पादन व वितरण पर भौतिक नियन्त्रण।

राजकोषीय नीति

हमारी अर्थव्यवस्था का ढांचा एक संघात्मक ढांचा है। इसका अर्थ है कि राज्य के अधिकार का केन्द्र में केन्द्र सरकार द्वारा तथा राज्यों में विभिन्न राज्य सरकारों के द्वारा प्रयोग किया जाता है, और यह इनके बीच संविधान द्वारा निर्धारित शक्तियों के वितरण के अनुसार ही किया जाता है। इसीलिए, अन्य अधिकारियों की तरह कराधान के अधिकार को भी केन्द्र एवं राज्य द्वारा संविधान के प्रावधानों के अनुसार

ही प्रयोग करना होता है। उदाहरण के लिए, आयों पर कर लगाने का अधिकार केवल केन्द्र को ही है। उसी तरह राज्य सरकारों को वस्तुओं की बिक्री पर कर लगाने का अधिकार प्राप्त है। कर-अधिकारों के इस विभाजन का तात्पर्य है कि अन्य चीजों के अलावा, संविधान ने अर्थव्यवस्था में राज्य के हस्तक्षेप की केन्द्र एवं राज्य सरकारों की एक सामूहिक जिम्मेदारी के रूप में कल्पना की है।

तो भी, मांग और पूर्ति की शक्तियां केन्द्र एवं राज्यों के बीच इस प्रकार विभाजित करने योग्य नहीं हैं। वे सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था को संचालित करती हैं। ऐसी स्थिति में, संघीय ढांचा इन शक्तियों के नियन्त्रण के लिए किए जाने वाले समन्वय के प्रयत्नों की कठिनाई को बढ़ा देता है। उदाहरण के लिए इस बारे में लगातार ध्यान रखना होगा कि केन्द्र की कराधान नीति के द्वारा जो कुछ करने का प्रयत्न किया जा रहा है (उदाहरण के लिए, गरीबों का पक्ष लेते हुए आय कर की आरोपी दरों को लागू करना) उसे उसी समय कहीं राज्य सरकारों की कराधान नीतियों के द्वारा निरस्त तो नहीं किया जा रहा है (उदाहरण के लिए आम उपयोग की वस्तुओं पर कड़े बिक्री कर लागू करके)।

कर कई प्रकार के हो सकते हैं। उदाहरण के लिए, व्यक्तिगत आय पर कर और व्यक्तिगत सम्पत्ति पर, ये ''प्रत्यक्ष कर'' कहलाते हैं। एक प्रत्यक्ष कर इसलिए ''प्रत्यक्ष'' कहलाता है क्योंकि इसका भुगतान प्रत्यक्ष रूप से उसी व्यक्ति द्वारा किया जाता है जिससे यह एकत्र किया जाता है। सम्पदा शुल्क, उपहार कर व्यय और कर प्रत्यक्ष करों के अन्य उदाहरण हैं। ऐसे भी कर हैं जिन्हें प्रत्यक्ष रूप से नहीं बल्कि अप्रत्यक्ष रूप से किन्हीं विशेष प्रकार के सौदों के आधार पर एकत्र किया जाता है। वस्तु बिक्री कर इसी प्रकार के अप्रत्यक्ष कर का उदाहरण है। जब विक्रेता एक वस्तु को बेचता है तो वह सरकार द्वारा लगाये गए बिक्री कर की वसूली करता है। कर का भुगतान क्रेता करता है किन्तु सरकार इसे विक्रेता से ही वसूल करेगी। इस प्रकार यह अप्रत्यक्ष हैं और एक विशेष व्यक्ति की बजाय एक विशेष सौदे से जुड़ा होता है। स्टाम्प शुल्क, उत्पादन शुल्क, सीमा शुल्क आदि सभी इसी प्रकार के अप्रत्यक्ष कर हैं।

एक नीति के उपकरण के रूप में करों का महत्त्व आसानी से दिखाई दे जाता है। यदि हम अमीरों एवं गरीबों के बीच की असमानता को कम करना चाहते हैं, तो हमें इसके लिए अधिक अमीर व्यक्ति की आय (अथवा धन या सम्पत्ति) में से तुलनात्मक रूप से अधिक कर लेने की कोशिश करनी चाहिए। यह हम एक ऐसे कर ढांचे के द्वारा कर सकते हैं कि जिसमें कर की दर क्रमशः बढ़ती जाती है। बहुत गरीब लोगों पर कोई कर नहीं, एक न्यूनतम स्तर से ऊपर के निम्नतम आय वर्ग के लोगों पर 5 प्रतिशत, अगले आय वर्ग पर 8 प्रतिशत से लगाकर उच्चतम आय वर्ग पर माना कि 80 प्रतिशत कर एक आरोपी आय कर प्रणाली का ही उदाहरण है।

कई वर्षों से हमारे देश में प्रत्यक्ष करों की बढ़ती हुई (प्रगतिशील) दरें ही रही हैं। किन्तु यह असमानता को प्रभावी रूप से कम कर सकती हैं या नहीं। यह कर की दरों के अलावा और भी कई तत्त्वों पर निर्भर करता है। कर वंचना को मात्रा एक ऐसा ही तत्त्व है। कर योग्य आय अथवा सम्पत्ति की गणना करते समय जिस सीमा तक कई प्रकार की विशेष कटौतियों की अनुमति दी जाती है, वह दूसरा तत्त्व है। भारत में पिछले तीस वर्षों में केन्द्र एवं राज्यों के कुल करों में प्रत्यक्ष करों का हिस्सा घटता जा रहा है। पचास के दशक के प्रारम्भ में 35 प्रतिशत से भी अधिक से घटकर हाल ही के वर्षों में यह लगभग 15 प्रतिशत ही रह गया है। इसने स्वाभाविक रूप से, कुछ सीमा तक सामाजिक नीति के एक प्रभावी उपकरण के रूप में प्रत्यक्ष करों की उपयोगिता को कम कर दिया है।

असमानताओं को कम करने के लिए अप्रत्यक्ष करों का उपयोग करना और भी अधिक कठिन काम है और लोगों की विलासिताओं जैसे महंगी कारों, एयरकंडीशनरों (वातानुकूलितों) आदि पर ऊंचे कर कुछ सीमा तक इस उद्देश्य को पूरा कर सकते हैं। किन्तु अप्रत्यक्ष करों की एक सुनियोजित प्रणाली की

मुख्य शक्ति तो एक दूसरी ही दिशा में पाई जाती है। हम जानते हैं कि एक अप्रत्यक्ष कर एक विशेष प्रकार के सौदे जैसे तम्बाकू की बिक्री अथवा घड़ियों के आयात से जुड़ा रहता है। इसीलिए, अप्रत्यक्ष करों की प्रणाली का दूसरों की तुलना में किन्हीं विशेष प्रकार के आर्थिक सौदों को हतोत्साहित करने के लिए प्रयोग करना सम्भव है। इस प्रकार महंगी घड़ियों पर 90 प्रतिशत का और टाइपराइटरों पर 50 प्रतिशत का आयात शुल्क लगाना पिछली स्थिति की तुलना में टाइपराइटरों की तुलना में महंगी घड़ियों को और अधिक महंगा बना देगा। इसी प्रकार अप्रत्यक्ष करों के स्थान पर राज्य जिन सौदौं को प्रोत्साहित करना चाहता है और उन्हें अप्रत्यक्ष आर्थिक सहायता भी प्रदान कर सकता है (जो करों के विपरीत होती है) एक अधिक प्रिय उद्योग को नाम मात्र के अथवा बिना किराए के जगह देना उन दूसरे उद्योगों पर अप्रत्यक्ष कर लगाने के समान ही हैं जिन्हें अपने स्थान के लिए बाज़ार दरों पर किराया देना पड़ता है।

एक कम विकसित देश में आवश्यक नहीं कि कराधान का कुल मिलाकर उद्देश्य केवल मात्र आय की असमानताओं को कम करना, अथवा अन्यों की तुलना में उत्पादन की कुछ लाइनों को कम या ज्यादा आकर्षक बनाकर निजी उत्पादकों की प्राथमिकताओं को बदलना ही हो। एक विकासशील अर्थव्यवस्था में कराधान का एक मुख्य उद्देश्य विकास की दृष्टि से आवश्यक निवेशों के लिए साधन जुटाना भी होगा। यदि ठीक से समन्वय किया जाए तो प्रत्यक्ष करों एवं अप्रत्यक्ष करों का समुच्चय इस काम के लिए राज्य के हाथों में एक बहुत ही शक्तिशाली उपकरण हो सकता है। यह आय उगाहने के माध्यम से अर्थव्यवस्था के निजी व सार्वजनिक दोनों ही क्षेत्रों में उचित प्रकार के उद्यमों की वित्त अवस्था के लिए बचत की काफी बड़ी मात्राओं को उपलब्ध कराता है। इससे अधिक, यह संचार, शिक्षा, स्वास्थ्य परिवहन सेवाओं जैसी उन सामाजिक व आर्थिक अधिसंरचनाओं को सहायता प्रदान कर सकता है जो एक विकासशील अर्थव्यवस्था में मुख्य रूप से सार्वजनिक निवेशों पर ही निर्भर करती हैं। इन अधिसंरचनाओं के विकास की वित्त व्यवस्था के लिए सार्वजनिक संसाधनों को जुटाना अक्सर काफी कठिन समस्या रहती है।

मौद्रिक नीति

हमने देखा कि अर्थव्यवस्था में उत्पादन एवं विनिमय की प्रक्रियाओं की सहायता करने में मौद्रिक आधारित संरचना कितनी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। मुद्रा नामक संस्था की आवश्यकता अंशतः हमारी ऋणों की आवश्यकता के कारण होती है और इसीलिए, साख संस्था की भी आवश्यकता होती है। उद्योगों को विभिन्न प्रकार के अल्पकालीन, मध्यकालीन एवं दीर्घकालीन ऋणों के बिना नहीं चलाया जा सकता। कृषि की प्रक्रियाओं के लिए तो साख की आवश्यकता को इतना अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है कि हमको यह आवश्यक लगा कि ग्रामीण साख के प्रश्न पर विचार करने के लिए अलग से ही एक पूरा खण्ड रखा जाए। उपभोक्ता की गतिविधियों के भी ऐसे कई प्रकार हैं जिन्हें तब तक आसानी से नहीं बढ़ाया जा सकता जब तक कि उन्हें सस्ती साख सुविधाएं उपलब्ध न हों। एक घर खरीदना-इसी प्रकार की एक गतिविधि है। रेफ्रिजरेटर जैसी टिकाऊ घरेलू वस्तुएं खरीदना ऐसी ही एक दूसरी गतिविधि है अधिकांश मामलों में, मध्य आय वर्ग तब तक ऐसी वस्तुओं को नहीं खरीद सकता जब तक कि उन्हें किराया "Hire Purchase" (हायर परचेज़) साख आसानी से उपलब्ध नहो।

राज्य मौद्रिक संस्थाओं द्वारा दिए गए ऋणों (अथवा निर्माण की गई साख) की मात्रा एवं दिशा को काफी हद तक नियन्त्रित कर सकता है। इसीलिए, इस प्रकार के मौद्रिक नियन्त्रण अर्थव्यवस्था में राज्य के हस्तक्षेप के एक प्रमुख उदाहरण हो सकते हैं। भारतीय अर्थव्यवस्था में समस्त मौद्रिक नियन्त्रण भारतीय रिजर्व बैंक के हाथों में हैं। देश के केन्द्रीय बैंक के रूप में यह बैंकिंग प्रणाली के शीर्ष पर है। राज्य की मौद्रिक नीति के संरक्षण के रूप में यह वाणिज्य बैंकों को दिशा देता है एवं नियन्त्रि करता है। फिर सरकार के एजेंट के रूप में काम करते हुए, यह जनता से उधार लेने जैसे माध्यमों के द्वारा जनता के हाथों में मुद्रा

की पूर्तिको बढ़ाता है अथवा घटाता है। भारतीय रिजर्व बैंक सरकार की ओर से करेंसी जारी करने का काम भी करता है। जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं, यह जनता द्वारा बैंकों में जमा कराई गई नकदी की मात्रा ही है जो बैंकों को साख निर्माण के लिए आधार प्रदान करती है। बैंकिंग प्रणाली द्वारा साख निर्माण को नियन्त्रित करने के लिए भारतीय रिजर्व बैंक ने कई उपायों का प्रयोग किया है। इन उपायों में मुख्य रूप से शामिल हैं : जनता द्वारा बैंकों में रखी गई नकद जमाओं की मात्रा को नियन्त्रित करना अथवा बैंकों द्वारा ऋणों पर ली जाने वाली ब्याज की दर को नियमित करना।

उत्पादन एवं वितरण पर सार्वजनिक नियन्त्रण

कम से कम उत्पादन एवं वितरण के दो क्षेत्रों में तो सरकार भी भौतिक हस्तक्षेप के माध्यम से भारतीय अर्थव्यवस्था को नियन्त्रित करने का प्रयास करती है।

उत्पादन के क्षेत्र में सरकारी हस्तक्षेप का प्रथम क्षेत्र औद्योगिक लाइसेंस रहा है। भारतीय संसद के औद्योगिक नीति प्रस्ताव, 1948 के बाद 1951 में औद्योगिक विकास एवं नियमन अधिनियम लागू किया गया था। हम अगले खण्ड में इसके बारे में संक्षेप में वर्णन करेंगे।

अर्थव्यवस्था पर सरकार के भौतिक नियन्त्रण का दूसरा क्षेत्र खाद्यान्न वसूली खाद्यान्न कीमत नियन्त्रण और राशनिंग आदि समूची अर्थव्यवस्था की एक व्यापक सार्वजनिक वितरण प्रणाली के भाग के रूप में रहे हैं। इस प्रणाली का भी हम नीचे संक्षेप में वर्णन करेंगे।

औद्योगिक लाइसेंसिंग

औद्योगिक विकास एवं नियमन अधिनियम 1951 के तहत भारत में समस्त विनिर्माण इकाइयों को सरकार के पास रजिस्टर्ड करवाना पड़ता था। अब नई औद्योगिक नीति के प्रस्तावों के अनुसार कुछ इकाइयों को जो सुरक्षा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं, छोड़कर सबको रजिस्टर्ड करवाना ज़रूरी नहीं होगा।

पुरानी व्यवस्था में लाइसेंसिंग नियमों को निम्न उद्देश्यों के लिए अपनाया गया था :

(अ) उद्योगों का सन्तुलित क्षेत्रीय विकास;

(ब) बड़े व्यावसायिक घरानों की और अधिक वृद्धि पर रोक;

(द) नए उद्योगों का संरक्षण; और

(इ) लघु-पैमाना उद्योगों के लिए कुछ क्षेत्रों को रिजर्व करना।

दुर्भाग्य से, भारत में कठोर नियमों एवं प्रशासनिक नियन्त्रणों की वृद्धि के कारण लाइसेंस प्रणाली बहुत अधिक बोझिल व कष्टप्रद हो गई थी एवं हमारे आर्थिक विकास के मार्ग में बाधा मानी जाने लगी थी। अब हमारी अर्थव्यवस्था में नई औद्योगिक नीति के प्रस्ताव आ रहे हैं।

सार्वजनिक वितरण एवं राशनिंग

हमने देखा कि मांग और पूर्ति की शक्तियां अर्थव्यवस्था में उत्पादन एवं वितरण के सवालों का हमेशा ही सामाजिक दृष्टि से एक वांछनीय हल प्रस्तुत नहीं कर पाती हैं। हमारी अर्थव्यवस्था में इस अपर्याप्ता का एक जीता जागता उदाहरण भोजन, ईंधन और कपड़े जैसी अनिवार्य वस्तुओं की मांग और पूर्ति के मामले में मिल सकता है।

पूर्ति की ओर से, एक शब्द में, समस्या ''दुर्लभता'' की है। जहां तक बाज़ार-पूर्ति का सवाल है, हमारी अर्थव्यवस्था में अनिवार्य वस्तुओं की कमी तीन कारणों से उत्पन्न होती है। प्रथम, हमारे उत्पादन अपर्याप्त है। या तो इस कारण कि प्राथमिक उत्पाद को उसके उत्पादन की जो कीमत मिलती है वह काफी कम है या अन्य कारणों के कारण जिनमें से कुछ के बारे में हम पहले ही विवेचन कर चुके हैं, हमारी अर्थव्यवस्था खाद्यान्नों जैसी अनिवार्य वस्तुओं का भी पर्याप्त मात्रा से उत्पादन नहीं कर पाती है। द्वितीय, जो कुछ उत्पन्न किया जाता है उसके भण्डारण एवं विपणन की भी काफी कमियां हैं। चूंकि

हमारा कुल बिक्री-योग्य स्टॉक काफीबड़ा है, अतः हमारी भण्डारण एवं विपणन की सुविधाओं को भी एक काफी बड़े पैमाने पर संगठित करने की आवश्यकता है। तृतीय, सट्टे एवं काला बाज़ारी के लाभों के लिए जमाखोरी की बुराई भी पाई जाती है।

मांग की ओर समस्या गरीबी और उपभोक्ताओं की क्रय शक्ति में भारी असमानताओं की है। उदाहरण के लिए, यदि खाद्यान्नों को मांग और पूर्ति की मुक्त शक्तियों द्वारा निर्धारित कीमतों पर बेचने की इजाजत दी जाए तो वे व्यावहारिक रूप में हमारी जनसंख्या के एक बहुत बड़े भाग की पहुंच के बाहर हो जाएंगे। ऐसी स्थिति में एक ओर तो कुपोषण एवं भूखमरी होगी तथा उसी समय दूसरी ओर अपव्यय एवं अति उपभोग की स्थिति होगी।

भारत में खाद्यान्नों का कुल उत्पादन तथा मिट्टी के तेल, मोटे कपड़े और इसी प्रकार की अन्य अनिवार्य वस्तुओं की उपलब्ध पूर्ति हमारी न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त होगी, बशर्ते कि उनकी वसूली, कीमत निर्धारण एवं वितरण की बाज़ार में मांग और पूर्ति के वर्तमान दबावों से रक्षा की जा सके। इसे प्राप्त करने के लिए सरकार तीन कदम उठा सकती है।

प्रथम, प्राथमिक उत्पादक को उसकी उपज की पर्याप्त कीमत अवश्य दी जानी चाहिए। यदि वह पर्यात कीमत प्राप्त हो सकने के बारे में अनिश्चित है तो वह स्वाभाविक रूप से उतना उत्पादन करने में संकोच करेगा जितना वह तब उत्पादन करता जबकि उसे उसकी मांग के बारे में आश्वस्त कर दिया गया होता। इसका अर्थ है कि सरकार को एक ऐसी कीमत की घोषणा करने के बारे में तैयार रहना चाहिए जिस पर यदि आवश्यकता पड़े तो किसान जितना भी खाद्यान्न बेचने के लिए तैयार हो उसे सार्वजनिक वसूली के माध्यम से खरीदा जा सके। हमारे देश में, केन्द्र सरकार कृषि मूल्य आयोग के सुझावों के आधार पर कृषि वस्तुओं के वसूल मूल्य की घोषणा करके वास्तव में यही काम करती है। 1988 में इस तरीके से किसानों से सीधे 14 मिलियन टन से भी अधिक खाद्यान्न की वसूली की गयी थी।

दूसरा कदम वसूल किए गए स्टॉक के लिए पर्याप्त भण्डारण सुविधाओं का निर्माण करना है। जब एक सरकार के पास खाद्यान्नों जैसी किसी अनिवार्य वस्तु का एक काफी बड़ा (सुरक्षित) भण्डार मौजूद रहता है, केवल तभी वह उसकी कीमत को बाज़ार में स्थिर रख सकती है। खाद्यान्नों की बिक्री से सट्टे एवं कालाबाज़ारी को भी रोका जा सकता है जब सरकार स्वयं बाज़ार में प्रवेश करके सट्टे की प्रवृत्तियों को निष्फल बना देती है। उदाहरण के लिए, 1988 में वर्ष के प्रारम्भ में केन्द्र सरकार के पास 14 मिलियन टन खाद्यान्नों का बफर स्टॉक था। 14 मिलियन टन खाद्यान्नों की और वसूली करके, पिछले वर्ष सरकार ने नियन्त्रित कीमतों पर सार्वजनिक वितरण प्रणाली के माध्यम से 18 मिलियन टन से भी अधिक खाद्यान्नों की बिक्री की थी।

तीसरा कदम समूचे देश में सरकारी नियन्त्रण वाले वितरण केन्द्रों अथवा ''उचित मूल्य की दुकानों'' के माध्यम से अनिवार्य वस्तुओं की सार्वजनिक वितरण प्रणाली को वस्तुतः प्रभावी बनाने के रूप में होगा।

जैसा कि हमने पहले देखा कि भारत में सार्वजनिक वितरण प्रणाली खाद्यान्न और चीनी की बिक्री करने वाली उचित मूल्य की दुकानों के तन्त्र के माध्यम से काफी सफलतापूर्वक काम करती है। इसके अलावा इस प्रणाली का सम्बन्ध ईंधन अर्थात् मिट्टी के तेल और खाना पकाने के कोयले का वितरण से भी है। कण्ट्रोल का कपड़ा उपरभोक्ता सहकारी समितियों के साथ-साथ सामान्य बिक्री माध्यमों के द्वारा भी वितरित किया जाता है।

उचित दर की दुकानों के माध्यम से खाद्यान्नों एवं चीनी के सार्वजनिक वितरण की व्यवस्था आंशिक राशनिंग की प्रक्रिया के माध्यम से की जाती है। अभी तक तो प्रति व्यक्ति कोटा उपभोक्ताओं के विभिन्न आय वर्गों का ख्याल किए बिना ही निश्चित किया जाता रहा है। किन्तु यदि कभी इसकी सामाजिक दृ

से आवश्यकता अनुभव हुई तो आय पर आधारित राशनिंग प्रणाली लागू कर सकने लायक पर्याप्त जानकारी राशनिंग अधिकारियों द्वारा एकत्रित कर ली गई है।

आर्थिक नियोजन : आवश्यकता एवं उद्देश्य

योजना आयोग की स्थापना से सम्बन्धित 1950 के भारत सरकार के प्रस्ताव ने इसके कार्यों को संविधान में दिए गए राज्य के नीति निदेशक सिद्धान्तों के सन्दर्भ में ही परिभाषित किया था। हम इन सिद्धान्तों में से अर्थव्यवस्था के कार्य-संचालन की दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों को राज्य के लिए दिशा-निर्देशों वाले अनुभाग में पहले ही बता चुके हैं। जाति, सम्प्रदाय अथवा क्षेत्र का भेद किए बिना सभी स्त्रियों एवं पुरुषों के लिए आजीविका के पर्याप्त साधनों को सुनिश्चित करते हुए उनके रहन-सहन के स्तर में तेज़ी से वृद्धि ही केवल मात्र निदेशक सिद्धान्तों के उद्देश्यों को सन्तुष्ट कर सकती है। अर्थव्यवस्था की केवल एक नियमित एवं तीव्र वृद्धि दर ही रहन-सहन के स्तर में तेज़ी से सुधार ला सकती है। इस प्रकार की तीव्र वृद्धि दर को प्राप्त करने के लिए देश के साधनों को लगाने की व्यवस्था का नियन्त्रण एवं समन्वय आवश्यक है।

यह समन्वय उससे भी काफी आगे जाकर होता है जिसे मात्र लाभ की भावना पर आधारित मांग और पूर्ति की बाज़ार शक्तियों के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। अत: हमारी अर्थव्यवस्था में योजना का यही प्रमुख केन्द्रीय कार्य था और अधिक स्पष्ट रूप से, जब पहली पंचवर्षीय योजना (1951-56) तैयार की गई तो इस कार्य को निम्नलिखित रूपों में बनाया गया था :

1. भौतिक, पूंजीगत और मानवीय संसाधनों का निर्धारण करना, इन संसाधनों की कमियों का पता लगाना, इन कमियों को दूर करने के बारे में सुझाव देना।
2. निजी क्षेत्र तथा सार्वजनिक क्षेत्र में सरकार के प्रत्यक्ष प्रयत्नों तथा दोनों के माध्यम से इन संसाधनों के सन्तुलित उपयोग की योजना बनाना।
3. उन अवस्थाओं का निर्धारण करना जिनके बीच योजना को बांटा जाना चाहिए, तथा प्रत्येक अवस्था में योजना को लागू करने के लिए साधनों के उचित आबंटन के बारे में सुझाव देना।
4. अर्थव्यवस्था में विकास की दर को मन्द करने वाले कारकों का पता लगाना; इन बाधक कारकों को निष्प्रभावित करने के लिए आवश्यक परिस्थितियों पर विचार करना।
5. योजना को लागू करने के लिए आवश्यक प्रशासन तन्त्र की रूपरेखा बनाना।
6. प्रत्येक चरण पर योजना के क्रियान्वयन का मूल्यांकन करना, इस प्रकार के मूल्यांकन एवं समीक्षा से निकले सुधार के उपायों के बारे में सुझाव देना।
7. इस निर्धारित काम से सम्बन्धित अन्य किसी भी मामले पर सुझाव देना।

योजना की रणनीतियां

पहली पंचवर्षीय योजना से लेकर अब तक की हमारी सभी योजनाओं ने आर्थिक विकास एवं सामाजिक न्याय के दोनों ही उद्देश्यों को साथ-साथ स्वीकार किया है। किन्तु पांचवीं योजना के पहले दो वर्षों (1974-75) एवं (1975-76) के दौरान अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक संकट एवं तेज़ी से बढ़ती हुई कीमतों ने हमें यह अहसास करा दिया कि हम अपने उद्देश्यों के निर्धारण करने में कुछ आवश्यकता से अधिक आत्म सन्तुष्ट रहे। यदि हमारी अर्थव्यवस्था को मुख्य रूप से अपनी ही ताकत पर निर्भर करना है तो आर्थिक वृद्धि एवं सामाजिक न्याय के तमाम उद्देश्यों को एक साथ प्राप्त कर पाना या उन तक पहुंच पाना सम्भव नहीं है। इनमें से कुछ को स्थगित करना आवश्यक है ताकि दूसरों को प्राप्त किया जा सके। दूसरे शब्दों में, हमारी योजना-रणनीति के लिए यह आवश्यक है कि प्राथमिकताओं को अब पहले से भी अधिक कठोरता से निर्धारण किया जाए।

योजनाओं के हमारे अनुभवों के परिणामस्वरूप हमें और भी एक बात समझ में आई है। अब यह महसूस किया जाने लगा है कि हमारे संविधान के निदेशक सिद्धान्त वास्तव में हमें आर्थिक विकास एवं सामाजिक न्याय के दो अलग-अलग उद्देश्य नहीं देते बल्कि एक ही उद्देश्य देते हैं : सामाजिक न्याय के लिए आर्थिक विकास। दूसरे शब्दों में, हमारे आर्थिक कल्याण के लिए सब प्रकार की आर्थिक वृद्धि का समान महत्त्व नहीं है। केवल विकास के उन्हीं प्रकारों को अर्थव्यवस्था के सामने उद्देश्यों के रूप में रखा जा सकता है जो सब लोगों को लाभ पहुंचाते हैं।

हमें अपनी सभी योजनाओं एवं उनके अन्तर्गत चलने वाले आर्थिक कार्यक्रमों को अनुभूति की इसी भावना के प्रकाश में देखना होगा। तब, अब जो काम है वह है–उत्पादकता बढ़ाने के उद्देश्य का सामाजिक न्याय को प्रोत्साहित करने वाले उद्देश्यों के साथ मेल बिठाना। इस प्रकार भूमि सुधार, लघु सिंचाई, सहकारिता, भूमिहीन खेतिहर मज़दूरों के लिए मकान बनाने के लिए भूमि की व्यवस्था तथा ग्रामीण गरीबों को लाभ पहुंचाने वाली अन्य योजनाएं ठीक ही सबसे ऊंची प्राथमिकता की मांग कर सकती हैं। इसी तरह, उद्योगों में प्रशिक्षण, विद्यार्थियों को नि:शुल्क अथवा कम कीमत पर पुस्तकें और स्टेशनरी उपलब्ध कराने जैसी आवश्यक सुविधाओं की व्यवस्था करना और इसी प्रकार के उन अन्य उपायों पर काफी अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है जिनको हमारे नए आर्थिक कार्यक्रम में शामिल किया गया है। इस प्रकार का आर्थिक कार्यक्रम सबसे पहले पांचवीं योजना में प्रारम्भ किया गया था।

नियोजन एवं लागू

योजना आयोग के लिए जो काम सौंपा गया है वह सब प्रकार से काफी महत्त्वपूर्ण काम है। किन्तु ऐसा केवल इसलिए नहीं है कि इसे जो जिम्मेदारियां सौंपी गई हैं उनकी एक काफी लम्बी सूची है। यह काम जिस कारण महत्त्वपूर्ण था अथवा बना हुआ है उसके मुख्य रूप से दो आधारभूत कारण हैं।

सबसे पहले, सरकारी नियोजन के बिना अर्थव्यवस्था में जो कुछ होता है वह एक ऐसी स्थिति होती है जहां निजी लाभ के उद्देश्यों से प्रेरित होकर मांग और पूर्ति की शक्तियां बिना रुकावट के खुलकर कार्य करती हैं। अत: ये केवल मात्र यान्त्रिक शक्तियां ही नहीं हैं जिन्हें नियन्त्रण की अधिक अच्छी तकनीकों का पता होने पर आसानी से नियन्त्रित किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, यदि हमें पता लगे कि एक गहरे कुएं से पानी निकालना काफी कठिन साबित हो रहा है, तो हम आराम से विद्युत संचालित पम्प सैटों का निर्माण कर उनका प्रयोग कर सकते थे जिससे हमारा काम आसान हो सकता था। किन्तु यदि हमें पता चले कि लोगों का एक वर्ग पानी की सुरक्षित आपूर्ति जैसी जीवन की अनिवार्य आवश्यकता से वंचित है तो इस कमी को ठीक करना पानी खींचने की अधिक अच्छी तकनीक के प्रयोग करने से कहीं अधिक कठिन काम है। इसके लिए लोगों को सामाजिक तौर-तरीकों में परिवर्तन लाना पड़ सकता है और उसे लाना कोई आसान काम नहीं है। इससे भी अधिक जो महत्त्वपूर्ण है वह यह है कि इस समस्या के समाधान में एक ऐसा परिवर्तन भी शामिल हो सकता है जो ऐसे कुछ लोगों के लिए एक प्रकार से असुविधाजनक हो सकता है जिनको अभी तक पानी की आपूर्ति में कोई कठिनाई नहीं आती थी। तब ये लोग ऐसे परिवर्तन का विरोध करने का प्रयत्न करेंगे।

जब कभी हमें एक ऐसे आर्थिक परिवर्तन की योजना करनी होती है तो निश्चित रूप से अब तक के किसी एक सुविधा प्राप्त वर्ग पर चोट करती है, तब योजना और इसका क्रियान्वयन दोनों ही केवल मात्र कठिन तकनीकी सवाल नहीं बल्किकठिन सामाजिक एवं राजनैतिक सवाल भी बन जाते हैं। अत: आर्थिक नियोजन करना, जिसमें समूची अर्थव्यवस्था की मांग और पूर्ति की शक्तियों में हस्तक्षेप करना शामिल होता है, एक काफी कठिन काम है क्योंकि इसमें अक्सर कई निहित स्वार्थी तत्त्वों के कामों में हस्तक्षेप करना पड़ता है।

सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के स्तर पर योजना करना क्योंकर एक कठिन काम बन जाता है इसका दूसरा कारण यह है कि हमारा उद्देश्य तीव्र आर्थिक विकास का है। तीव्र वृद्धि से तात्पर्य है अर्थव्यवस्था के पूंजी आधार को बढ़ाते हुए उत्पादन की क्षमता में तेज़ी से विस्तार करना। हम देख चुके हैं कि इसमें भविष्य में वस्तुएं प्राप्त करने के लिए वर्तमान की सुविधाओं के त्याग का आधारभूत सवाल खड़ा होता है। कल की उत्पादन क्षमता में वृद्धि करने के लिए यह आवश्यक है कि कल के लिए आज कुछ उपभोग वस्तुओं का त्याग किया जाए। लगातार गरीबी की मार से पीड़ित एक अर्थव्यवस्था में इस प्रकार के चुनाव का काम काफी कठिन है। इसीलिए, चाहे योजना बनाने की अवस्था हो अथवा चाहे फिर उसे लागू करने की अवस्था हो, इस प्रकार का चुनाव करने में प्रत्येक व्यक्ति की ओर से काफी अधिक उदासीनता ही प्रकट होने वाली है। इस उदासीनता पर तो योजना द्वारा नहीं बल्कि राजनैतिक इच्छा शक्ति द्वारा ही काबू पाया जा सकता है।

तब आयोजन की सफलता योजना में लोगों की सक्रिय सहभागिता पर निर्भर करती है अर्थात् उनके द्वारा उद्देश्यों को मन से स्वीकार करने और उसके लिए आवश्यक त्याग करने की तैयारी पर निर्भर करती है। जब विश्व के बाज़ारों में व्याप्त असाधारण, कीमत वृद्धियों को ध्यान में रखकर पांचवीं पंचवर्षीय योजना को संशोधित करना पड़ा तब महत्त्वाकांक्षी पंचवर्षीय योजनाएं बन्द करने तक की चर्चा चल पड़ी थी। तब सितम्बर 1976 में योजना के संशोधन के लिए बुलाई गई राष्ट्रीय विकास परिषद् में प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने नियोजन के आर्थिक आधार पर ठीक ही ज़ोर दिया था।

''एक योजना अंततोगत्वा न केवल मात्र योजनाओं की एक विषय-सूची है और न ही आंकड़ों का एक परिष्कृत जोड़-तोड़। यह तो उन लोगों की प्रगति का लेखा-जोखा है जो अपनी समस्याओं एवं कठिनाइयों की भारी भरकम मात्रा एवं विविध प्रकारों से घबराते नहीं बल्कि एक ऐसी कार्य योजना बनाने के लिए संघर्ष करते रहते हैं जो कदम-दर-कदम और वर्षानुवर्ष इन समस्याओं पर काबू पाने में इनकी मदद करती है। कभी-कभी यह कार्यक्रम आवश्यकता से अधिक महत्त्वाकांक्षी साबित हो सकता है और तनावों और दबावों के कारण भी बन सकता है। किन्तु इससे हमें इतना भयग्रस्त नहीं हो जाना चाहिए जिससे कि हम ऐसी योजना के बारे में सोच बैठें जिसे कुछ लोग गलती से ''वास्तविक'' योजना कहते हैं, एक ऐसी योजना जिसमें कोई विशेष प्रयत्न या त्याग की आवश्यकता ही नहीं होती। प्रगति तो केवल तभी सम्भव है जब हम अपने प्रयासों एवं क्षमताओं को लगभग टूटने के स्तर तक बढ़ायें। अनुभव यह बताता है कि टूटने की बजाय इस प्रकार के प्रयास हमें अधिक ताकत, अधिक विश्वास एवं अधिक सन्तुष्टि ही प्रदान करते हैं।''

योजनाओं के अन्तर्गत आर्थिक विकास

हमारी पहली पंचवर्षीय योजना 1951-52 से 1955-56 तक की अवधि की थी। सातवीं योजना 1989-90 में समाप्त हुई है। इन चालीस वर्षों की अवधि के दौरान भारतीय अर्थव्यवस्था ने कई प्रकार से प्रगति की है। यह दलील दी जा सकती है कि इस प्रगति का एक बहुत बड़ा भाग योजनाओं के बिना सम्भव नहीं हो सकता था। आइए, अब हम इस अवधि के दौरान हुई प्रगति के कुछ संकेतकों को देखें। सुविधा के लिए हमने ज्यादातर 1950-51 और 1985-86 के वर्षों को तुलना के वर्षों के रूप में लिया है।

हमारा पहला संकेतक है राष्ट्रीय आय अथवा शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद की वृद्धि। यह 1950-51 में लगभग 16,700 करोड़ रु० (1970-71 की कीमतों पर) से बढ़कर 1985-86 में 60,000 करोड़ रु० से भी ऊपर हो गया अर्थात् लगभग 260 प्रतिशत की वृद्धि।

किन्तु इसी अवधि के दौरान भारत में हुई जनसंख्या की वृद्धि आय की इस वृद्धि के अधिकांश भाग को डकार गई। इस बीच जनसंख्या 1950-51 में 36 करोड़ से बढ़कर, 1991 में 84.39 करोड़ तक पहुंचा

गई। इसीलिए, हमारा दूसरा संकेतकम अधिक महत्त्वपूर्ण है और वह है प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय। यह 1950-51 में 466 रु० (1970-71 की कीमतों पर) से बढ़कर 1985-86 में 750 रु० तक पहुंच सकी है जो लगभग 61 प्रतिशत की एक धीमी वृद्धि को ही बताती है।

एक तीसरा संकेतक अर्थव्यवस्था में पूंजी निर्माण की दर में वृद्धि की मात्रा है। 1951-52 में सकल घरेलू पूंजी निर्माण, सकल घरेलू उत्पाद का केवल 10.2 प्रतिशत ही था। 1985-86 तक यह बढ़कर लगभग 21 प्रतिशत हो गया।

हमारे जैसे अधिक जनसंख्या वाले विकासशील देश में कृषि क्षेत्र में कार्यकुशलता और वह भी विशेषकर खाद्यान्न उत्पादन में एक काफी महत्त्वपूर्ण बात है। इसीलिए हमारा चौथा संकेतक है खाद्यान्नों का उत्पादन। 1950-51 में 51 मिलियन टन से बढ़कर 1985-86 में लगभग 150 मिलियन टन हो गया जो 194 प्रतिशत की वृद्धि को बताता है।

हम अक्सर एक देश में उत्पन्न बिजली की मात्रा का औद्योगीकरण के एक सूचक के रूप में प्रयोग करते हैं। यह हमारा पांचवां संकेतक है यह 1950-51 में केवल 6.6 मिलियन किलोवाट से बढ़कर 1985-86 में 2000 बिलियन किलोवाट से भी ऊपर तक पहुंच गई।

तो भी, पंचवर्षीय योजनाओं की सफलता को केवल मात्र आर्थिक विकास के इन संकेतकों से नहीं आंका जा सकता, बल्कि इसे समानता एवं सामाजिक न्याय के उद्देश्यों की दिशा में अर्थव्यवस्था की प्रगति के द्वारा भी जाना जाता है। इन उद्देश्यों के लिए संख्यात्मक संकेतकों को बता पाना तो कठिन काम है। किन्तु यह बताने के लिए इस क्षेत्र में केवल मिश्रित प्रगति ही हुई है, दो तथ्य नोट किए जा सकते हैं।

प्रथम, स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण सेवाओं में हुई वृद्धि को देखें। पंचवर्षीय योजनाओं की अवधि के दौरान इन सेवाओं में निश्चित ही काफी अच्छी वृद्धि हुई है। उदाहरण के लिए, अस्पतालों एवं ग्रामीण डिस्पेंसरियों में उपलब्ध बिस्तरों की संख्या 1950 से 1,12,000 से बढ़कर 1986 में 6,95,000 से भी अधिक हो गई। इससे अस्पताल बिस्तरों की संख्या 3200 लोगों के पीछे 1 से बढ़कर 1150 लोगों के पीछे 1 हो गई। यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण प्रगति है जिसने निश्चित ही ज्यादातर गरीब लोगों के जीवन की गुणवत्ता में सुधार लाया है।

किन्तु अब गरीबी के प्रत्यक्ष उन्मूलन से सम्बन्धित अधिक मूलभूत प्रश्न पर विचार कीजिए। इस क्षेत्र में बता सकने लायक बहुत ही कम प्रगति हो सकी है। जबकि योजना के पहले दो दशकों के लिए तो कोई विश्वसनीय आंकड़े उपलब्ध नहीं है पर काफी बाद में चलकर 1972-83 के वर्ष में हम पाते हैं कि गरीबी की रेखा के नीचे रहने वाली जनसंख्या का अनुपात 51.5 प्रतिशत (कुल) था, 41.2 प्रतिशत शहरी क्षेत्र में और 54.1 प्रतिशत ग्रामीण क्षेत्र में था। 1984-85 के लिए ये अनुमान क्रमशः 36.9 प्रतिशत (कुल), 27.7 प्रतिशत शहरी क्षेत्र के लिए और 39.9 प्रतिशत ग्रामीण क्षेत्र के लिए थे। सन् 2000 तक गरीबी के अनुपात को घटाकर केवल मात्र 5 प्रतिशत तक ले जाने के राष्ट्रीय उद्देश्य की तुलना में 1989-90 के लक्ष्य इतने मात्र हैं : 25.8 प्रतिशत (कुल), 19.3 प्रतिशत शहरी क्षेत्र और 28.2 प्रतिशत ग्रामीण क्षेत्र। भारतीय अर्थव्यवस्था पर लगभग चालीस वर्षों की योजना प्रक्रियाओं के प्रभाव के रूप में देखें तब तो ये आंकड़े वास्तव में निराशाजनक ही नज़र आएंगे।

नब्बे के दशक के लिए नियोजन

हमने देखा कि पिछले 40 वर्षों के दौरान भारत में एक धीमी गति से ही आर्थिक विकास हो पाया है। ऊंचे गरीबी अनुपात में, फिर चाहे वह शहरी क्षेत्र में हो अथवा ग्रामीण क्षेत्र में हो, यह कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन क्यों नहीं ला पाया इसका मुख्य कारण, यदि धीरे-धीरे घटती हुई न तो कम से कम भारत की लगभग स्थिर रोज़गार स्थिति में पाया जाता है।

भारत में सकल घरेलू उत्पाद में वृद्धि हुई है, किन्तु रोज़गार में काफी धीमी दर से वृद्धि हुई है, और जनसंख्या के साथ-साथ श्रम शक्ति में रोज़गार की तुलना में अधिक तेज़ गति से वृद्धि हुई है। इस प्रकार बेरोज़गार लोगों की लगातार बढ़ती हुई संख्या नियमित रोज़गार प्राप्त कर सकने वाले सौभाग्यशाली लोगों की बढ़ती हुई आय (यद्यपि बहुत ही धीमी गति से बढ़ती हुई) के आकर्षक वृत्त से बाहर रहने को मजबूर हुई है।

आठवीं पंचवर्षीय योजना (1990-91)-(1995-96) तैयार करने का अवसर एक नई सरकार एवं एक नए योजना आयोग को प्राप्त हुआ है। पिछले अनुभवों की मुख्य सीख को ध्यान में रखते हुए बीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में नियोजन का दृष्टिकोण इसी बात से प्रभावित होगा। योजना के नए दृष्टिकोण पत्र (जून, 1990) में कहा गया है कि आठवीं योजना का मुख्य बल ''रोज़गार'' पर है। यह आशा की जाती है कि समूचे दशक और कुछ मात्रा में 21वीं शताब्दी में भी योजना का मुख्य ज़ोर रोज़गार पर ही बना रहेगा।

किन्तु जैसा कि हम जानते हैं, भारत जैसी एक विकासशील अर्थव्यवस्था में रोज़गार समस्या के कई पहलू हैं। ग्रामीण एवं शहरी क्षेत्रों में, अथवा पुरुषों एवं महिलाओं के बीच (अथवा समाज के अन्य कमज़ोर वर्गों के बीच इसके कई रूप हैं। अतः इस समस्या का ठीक प्रकार से समाधान करने के लिए योजना आयोग को लोगों के जिन अलग-अलग वर्गों के लिए अलग-अलग कार्य योजना बनानी चाहिए वे वर्ग हैं : (अ) ग्रामीण श्रम शक्ति में बेरोज़गार लोग, (ब) अल्प रोज़गार कृषि श्रमिक, (स) ग्रामीण क्षेत्र में पलायन करके गए शहरी क्षेत्र में कम मज़दूरी, अनियमित एवं आकस्तिक कामों में लगे लोग (द) शोषणकारी रोज़गार स्थितियों में काम करने वाली महिलाएं बच्चे और समाज के कमज़ोर वर्ग के सदस्य, और निस्संदेह ही (इ) संगठित कारखाना क्षेत्र में बेरोज़गार औद्योगिक श्रमिक।

नए योजना आयोग ने रोज़गार, अल्प-रोज़गार और बेरोज़गारी के सवालों को इन सब दृष्टिकोणों से देखा है। इसके अलावा, इसने उन दो नयी चिंताओं पर भी ध्यान दिया है जो हाल के वर्षों में समूचे संसार में आर्थिक नीतियों पर हुई बहस के दौरान उभरकर सामने आई हैं।

इनमें से पहली चिंता है पर्यावरण की सुरक्षा की। एक विकासशील देश में काम की कुछ ऐसी परिस्थितियां हैं कि लोगों को प्रकृति को नष्ट करने पर मज़बूर होना पड़ता है। उदाहरण के लिए, भारत में नई बनवासी क्षेत्रों में खेती के जिन तरीकों का प्रयोग किया जाता है वे मिट्टी को स्थायी रूप से नुक्सान पहुंचाते हैं और पेड़ों को काटने के कारण एक बहुत बड़े पैमाने पर वनों का नाश होता जा रहा है। अतः आठवीं योजना में ग्रामीण क्षेत्र में रोज़गार के उन तरीकों के खोजने पर काफी ध्यान दिया गया जो पर्यावरण को नष्ट करने की बजाय उसकी रक्षा करेंगे।

आधुनिक काल की दूसरी सबसे बड़ी चिन्ता कोयले और पैट्रोलियम जैसे ऊर्जा के स्त्रोतों की आपूर्ति में लगातार होती जा रही कमी है। उत्पादन की नई तकनीक जिसमें ऊर्जा का भी काफी बड़ी मात्रा में प्रयोग होता है, तुलनात्मक रूप से काफी अधिक उत्पादन प्रदान करती है। यद्यपि यह अल्पकाल में अक्सर काफी लाभप्रद प्रतीत होती है, किन्तु इस प्रकार की तकनीकों को बड़े पैमाने पर अपनाना भविष्य में गम्भीर ऊर्जा संकट उत्पन्न करेगा। आठवीं योजना अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रों में केवल श्रम बचाने वाली तकनीक ही नहीं बल्कि ऊर्जा बचाने वाली उत्पादन तकनीक को प्रोत्साहित करने का भी वादा करती है।

नए योजना आयोग ने स्वयं नियोजन प्रक्रिया में भी आधारभूत परिवर्तन करने का निश्चय किया है। नए दृष्टिकोण की मुख्य विशेषता योजना निर्णय करने के बारे में है। विकेन्द्रीकृत नियोजन का अर्थ है कि स्थानीय जनतान्त्रिक संस्थाओं (जैसे ग्राम पंचायतों अथवा नगरपालिकाओं) को समन्वित स्थापित क्षेत्रीय नियोजन के लिए साधन एवं जिम्मेवारी प्रदान की जाएगी।

आठवीं योजना निवेश की प्राथमिकताओं को भी जहां तक भी हो सकेगा वहां तक ग्रामीण क्षेत्र के पक्ष में स्थानान्तरित करने का प्रयत्न करेगी। उदाहरण के लिए, यह आशा है कि नए सरकारी व्ययों के पचास प्रतिशत भाग को कृषि उद्योग और परिवहन एवं भण्डारण सुविधां के निर्माण जैसी ग्रामीण सेवाओं पर लगाया जाएगा।

इन उद्देश्यों की दिशा में काम करने से एक अधिक अर्थपूर्ण आर्थिक विकास हो सकेगा। पर जहां आठवीं योजना के कार्यक्रम रोज़गार में वृद्धि की एक तीव्र दर का निर्माण करेंगे, वहां वे जितनी बहुत लोग आशा करते हैं उसकी तुलना में सकल घरेलू उत्पाद की एक कम उत्साहजनक वृद्धि दर को लाने वाले साबित हो सकते हैं। इसका कारण यह है कि उद्योगों की श्रम गहन तकनीक का प्रयोग करने तथा महिलाओं, बच्चों एवं समाज के कमज़ोर वर्ग के अन्य सदस्यों को उचित (अर्थात् ऊंची) मजदूरी का भुगतान करने के कारण लाभों में कमी आएगी। कम लाभ की सम्भावनाएं उद्यम के विस्तार को निश्चित ही कम आकर्षक बनाएगी।

आठवीं योजना के निर्माताओं का ऐसा मानना है कि भारत को इस कीमत को अदा करने के लिए तैयार रहना चाहिए। यह माना गया है कि लगभग 5.5 प्रतिशत (पहले की योजनाओं द्वारा संकल्पित 7-8 प्रतिशत की बजाय) की सकल घरेलू उत्पाद की वृद्धि दर के साथ-साथ अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रों में रोज़गार अवसरों का तेज़ी से सृजन का लक्ष्य प्राप्त किए जा सकने योग्य और स्वीकार्य दोनों हैं। इसके अलावा, इस बात की ओर भी संकेत किया गया है कि बहुत तीव्र वृद्धि दर के लिए प्रयास करने पर राजकोषीय एवं मौद्रिक स्थिरता के लिए खतरा उत्पन्न हो सकता है और अन्त में परिणाम भी कोई अधिक अच्छा नहीं हो सकता। जैसा कि हमने अस्सी के दशक में पाया कि वास्तविक वृद्धि दर 5.3 प्रतिशत वर्ग की दर से अधिक नहीं आ पाई।

किन्तु अन्त में निष्कर्ष के तौर पर यह कहा जा सकता है कि सकल घरेलू उत्पाद की 5.5 प्रतिशत प्रतिवर्ष की वृद्धि दर (रोज़गार स्थिति में वांछित सुधारों सहित) को प्राप्त कर सकना भी आसान काम नहीं है। जैसा कि आठवीं योजना के दृष्टिकोण पत्र ने गणना की है, इसके लिए देश की बचत दर को वर्तमान में सकल घरेलू उत्पाद के 20.5 प्रतिशत से बढ़ाकर 22 प्रतिशत करना होगा, निर्यातों की मात्रा के लिए 12 प्रतिशत की वार्षिक वृद्धि दर करनी होगी और, इस सबसे ऊपर केन्द्र व राज्य सरकारों द्वारा वहुत ही कठोर वित्तीय एवं राजकोषीय अनुशासन लगाने पड़ेंगे। दूसरे शब्दों में, हमें अधिक बचत करनी चाहिए, बाहरी संसार को अधिक बिक्री करना चाहिए और सरकार अथवा व्यक्तियों के रूप में कम खर्च करना चाहिए। एक गरीब देश के लिए इनमें से हर निर्णय काफी कठिन काम है जो यह बताता है कि आर्थिक विकास का कोई आसान रास्ता नहीं हो सकता।

अभ्यास-प्रश्न

1. भारतीय संविधान के निदेशक सिद्धान्तों में सम्मिलित भारतीय अर्थव्यवस्था के सामाजिक उद्देश्यों को संक्षेप में बताइए।
2. अर्थव्यवस्था के उद्देश्यों को प्राप्त करने में कराधान के महत्त्व को समझाइए।
3. औद्योगिक लाइसेंस प्रणाली भारत में उद्योगों के विकास को प्रभावित करने का कैसे प्रयास कर सकती है ?
4. भारतीय अर्थव्यवस्था में सार्वजनिक वितरण एवं राशनिंग की भूमिका को समझाइए।
5. भारत में योजना आयोग के सामने कौन-कौन से कार्य हैं ?
6. पंचवर्षीय योजनाओं को लागू करने के काम के कठिन होने के क्या मुख्य कारण हैं ?
7. योजनाओं के अन्तर्गत भारत के आर्थिक विकास पर एक नोट लिखिए।
8. भारत की आठवीं पंचवर्षीय योजना के दृष्टिकोण का संक्षेप में वर्णन कीजिए।